

## बला ए जाँ हैं उसकी हर बात, इबारत क्या इशारत क्या अदा क्या...

रेणु शर्मा

पी.एच.डी (नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन), महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्व विद्यालय वर्धा

### I

आदमी उतना भर ही है जितना, स्मृतियों ने उसे बचा लिया है...

- गीत चतुर्वेदी

स्मृतियों के ठहरे पानी में हल्की सी हिलोर है और धुंध में चलती हुई तस्वीरों से कृष्णा का चेहरा बनाने की कोशिश करती हूँ कौन है कृष्णा सोबती! नाम सुनते ही वो छोटा सा फोटो याद हो आता है जिसे पहली बार किताब के कवर पेज पर देखा था; ढेर किताबों के बीच धसी कुर्सी में बैठी साफ़ सफ़ाक़ रंग ओ बू की एक औरत जिसको एक बारगी गौर से देखने पर भी न देखते बने... कुछ कुछ पंजाबी लहज़े की सी। काले चश्मे से ओट करती एक उम्र की जागी आँखें जिनका वीराना किस ने देखा हो। इन आँखों को देखने की हसरत से कई दफ़ा तो ऐसा भी हुआ कि उनकी तस्वीर और वीडियो खोज कर देखा किए लेकिन वो मीर ने कहा है ना “ बढतीं नहीं पलक से ता हम तलक भी पहुंचे / फिरती हैं वो निगाहें पलकों के साये साये ” सो कहाँ देख पाए। उस पर लिबास ऐसा कि कई किस्से तक मशहूर हैं (जिक्र मिलता है कि उनके समकालीन लेखक मित्र मज़ाक में उसे राष्ट्रीय लिबास भी कहा करते थे) कितना कुछ धीरे धीरे खुल रहा है किरदार उनका... आओ तो पहले इस बाहरी तस्वीर की बात कर लें और गहरे रंगों से बात खुले। साहित्य के हवाले से जो तवारीख़ मिलती है उसमें कृष्णा सोबती का रचना संसार मुख्य रूप से 60-90 के बीच माना जाता है जो डार से बिछुड़ी (1958) से शुरू हो कर समय सरगम(1999-2000) तक पहुंचता है। जहां वें मित्रो मरजानी (1966), सूरजमुख अंधेरे के 1972, जिंदगीनामा: जिंदा रुख 1979, दिलो दानिश 1993 उपन्यास और ए लड़की 1991, यारों के यार तिन पहाड़ 1968, बादलों के घेरे में 1980 कहानी, हम हशमत—एक 1977, हम हशमत— दो 1997 कृतियाँ रचती हैं। पैदाइश 18 फरवरी 1925 में गुजरात के उस हिस्से में हुई जो पश्चिमी पंजाब था यानि अब का पाकिस्तान है। बोली पंजाबी थी सो वो लेखन में हर जगह मौजूद रही। उनके लेखन में कथ्य की ताज़गी और कहन के ठेठ देशी रंग का हमेशा जिक्र होता रहा। बोल्लड विषय से लेकर विभाजन त्रासदी तक सब पर कलम चलाती रहीं। भाषा को आलोचकों ने महकाव्यात्मक शैली माना और प्रचलित ढांचे के इतर भाषा में मौजूद संवादात्मक पदावली को लेकर कई मान्यताएं बनती बिगड़ती रहीं यानि साहित्य के रचे बसे कहन से अलग जिसका जिक्र जिंदगीनामा में विशेष हुआ। वे अपने लिखने को लेकर जितनी सतर्क रहीं उसका जिक्र भी समकालीनों में किया जाता रहा। राजेंद्र यादव ने खुद एक जगह जिक्र कर कहा “ मोती चुनना, पच्चीकारी या जरदोजी की महीन, नफ़ीस कारीगरी....शब्दों को कोई भी ऐसा नाम दिया जा सके तो हिन्दी में वह सिर्फ कृष्णा जी ने ही किया है। एक-एक शब्द वाक्य, कामा, फुल स्टॉप जैसे हफ्तों के परिश्रम से आया है। वे भयानक परफेक्शनिस्ट हैं। अपनी कलम से कभी भी उस चीज़ को बाहर नहीं आने देंगी जिसकी सारी नोकपलकें उन्होने दुरुस्त न कर लीं हों इसलिए तीन चार या अधिक वर्षों में उनकी एक रचना आती है और तहलका मच जाता है। कभी नेशनल आरकाइवज़, कभी नेहरू म्यूजियम और कभी और कभी पुरानी दिल्ली के किसी इंतहां बुजुर्ग वाली गली के चक्कर काटे जा रहे हैं कि उस बारे में कुछ चीज़ें जाननी है। इतनी मैहनत से तो मैं शायद एक पूरी थीसिस लिख डालता। पता नहीं वे

कैसा ताजमहल बना रहीं हैं। बहरहाल अपनी रचना को उन्होने इतनी तन्मयता और आत्मीयता से लिखा है कि सचमुच लगता है कि जैसे वे बरसों उसके साथ रही हैं और लिखे हुए सौ पन्नों के पीछे हजार पन्नों की मेहनत है। विवाद भी कम नहीं रहे जिंदगीनामा से लेकर साहित्य अकादमी तक के तमाम विवाद उन्हें घेरे ही रहे। हंस के पत्राचार के लिए भी उन्हें याद रखा जा सकता है। जिसमें उषेन्द्रनाथ अशक और विभूति नारायण राय के खत बार बार साहित्यक बैठकों में येन-केन प्रकरण आज भी याद किए जाते हैं। लेकिन सोबती की माटी ऐसी कि अच्छे अच्छे उनकी वाक पटुता के क्रायल थे। स्वादेश दीपक जहां इसी वाक पटुता के लिए गालिब को याद करके कहते हैं “ हिन्दी की अकेली लेखिका जिनके मुँह पर गाली सजती हैं। कृष्णा जी को देखा होगा, तभी गालिब ने कहा, ‘गालियाँ खाके भी बे मज़ा न हुआ’।

## II

**एक दो हों तो सहरेचश्म कहूँ, कारखाना है वां तो जादू का....**

दुनियाँ में जहां एक तरफ एशिया और योरोप की 19 वीं और 20 वीं शताब्दी की परीघटनाओं का पुनरपाठ होने लगा। वहीं इस दौर तक औरत की दुनिया लहजे में उतरने लगी थी। 50 और 60 का दशक हिन्दोस्तान में भी हिन्दी और उर्दू की महिला लेखिका के लिहाज से बेहद महत्त्वपूर्ण रहा है। सोबती का संसार 1958 से साहित्य जगत में खुलता है वहीं उनके सामने मन्नू भण्डारी (1931 जन्म) 1957 में मैं हार गई कहानी से आगाज़ करती हैं। 1968 में यही सच है, 1971 में आप का बंटी, उषा प्रियम्बदा 1930 (जन्म) (1961 जिंदगी और गुलाब के फूल कहानी, 1962 पचपन खंबू चार दीवारों और 66 मे रुकोगी नहीं राधिका उपन्यास और शिवानी जैसी कथाकार हैं लेकिन मित्रो जैसा किरदार हिन्दी के खाते में दूसरा नहीं आता। बाद तक भी दरअस्त यही सोबती को सबसे लग भी करता है। वहीं महिला लेखन के लिहाज से उर्दू हिन्दी से ज्यादा समृद्ध जान पड़ता है रशीद जहां (19051-952) 1932 में कहानी और नाटक लिख रही हैं तो जाकिया जुबेरी (1942), इस्मत चुगताई (1915-1991), कुरतुल ऐन हैदर (1926 जन्म) शीशे के घर 1945 और आग का दरिया 1959 में ही लिख देती हैं। फातिमा सुइया बाजिया भी नाटक, कहनी के साथ रेडियो और टीवी के लिए लिखती हैं। इसी कड़ी में एक नाम और याद हो आता है जो हिन्दी उर्दू पंजाबी में बेहद बड़ा नाम हुआ; अमृता प्रीतम (1919-2005) वे 1944 से 50 के बीच लोक पीड़ कविता संग्रह, डॉ. देव(1949) और पिंजर उपन्यास(1950) लेकर आती हैं। (कृष्णा के चर्चित विवादों में अमृता से जिंदगीनामा के नाम का विवाद भी बहुत चर्चित है)। वहीं अदा जाफ़री (1924 -2015) और ज़ेहरा निगाह (जन्मतिथि उन्हें खुद भी नहीं पता है वातर्मन में स्वस्थ हैं) ने 1950 में ही उर्दू शाइरी में पहली महिला शाइर का मुक़ाम भी हासिल किया। जिन्होंने फिराक से लेकर जोश, मख़दूम, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, फ़राज़ सब के बराबर अपनी उपस्थित दर्ज की। ये उस दौर की बात है जब लड़कियां महफिलों से दूर ही रहती थीं और शेर कहने का हक़ या तो मर्द के पास था या फिर तवायफों के। बाद के वर्षों में ये फ़हरिस्त किश्वर नाहीद, फहमिदा रियाज़, साराह शगुफ़ता, इशरत आफ़रीन और परवीन के लहजे तक आते आते और निखार में आईं लेकिन परवीन इसकी आखिर पड़ाव मानी जाती है जिसे इतनी शोहरत और रुतबा हासिल हुआ। 90 के दशक में कीश्वर की मशहूर नज़्म ‘हम गुनाहगार औरतें’ के नाम से पाकिस्तानी महिला लेखकों का सग्रह भी सामने आया जिसे नारीवादी लेखन में बहुत सराहा गया। थोड़ा सा रुकें तो एक बात यहाँ और भी करते चले कृष्णा जो लघु उपन्यास मित्रो मरजानी हिन्दी में 1966 में लिख रही है वहीं सवादों में ज्यादा मुखर इस्मत चुगताई 1941 में लिहाफ़ कहानी का

लेखन कर देती हैं जिसके लिए उन पर लाहौर हाई कोर्ट का मुक़दमा भी चला ये कहानी उस दौर में समलैंगिक मुद्दे को अपना प्लॉट बनाती है। कुल मिला कर हमारे पास बहुत कुछ है इन बूढ़ी सफ़ेद बालों वाली औरतों के बारे में कहने को जिनकी हथेलियों में रेखाओं से ज्यादा तजुर्बे थे बक़ौल मीर जिनको ज़मान-ए-शौक़ देखता...था...तो देखते न बनता था सुनता था... तो देर तलक सिर धुनता था।

### III

#### ज़माने तेरी आँख में तिल है ...

अब आते हैं तस्वीर के दूसरे पहलू पर जहां कृष्णा सोबती मित्रों जैसे किरदार को हिन्दी साहित्य में पहली बार लाती है और हिन्दी के पूरे परिदृश्य में एक नई बहस शुरू हो जाती है। मित्रो मरजानी ने हाल ही में अपने 50 वर्ष हिन्दी साहित्य में पूरे किए हैं। कई आलोचकों ने पुनर्मूल्यांकन में माना कि अभी तक भी साहित्य में इतना बोल्ड किरदार नहीं लिखा गया है। मित्रो को लेकर कई मान्यताएं भी रही हैं। कुछ का मनना रहा कि ये उपन्यास स्त्री मन की उलझनों के चलते पुरुष साईंकी को ही इंडोर्स करता है और कुछ इसे हिन्दी का पहला सफल देहवादी पाठ कहते हुए अपनी समकालीन महिला लेखिकाओं में साहसिक क़दम करार देते हैं। दरअसल सेक्सुअल कंटेन्ट को लेकर ये दिक्कत ज़्यादातर हिन्दी और उर्दू साहित्य दोनों जगह देखने को मिलती है। लेकिन कहना न होगा कि उर्दू में जितने जोखिम मंटो और इस्मत ने अपने लेखन में उठाए हैं हिन्दी में उसकी तुलना में कम ही रहे। देखा जाए तो ये दिक्कत आलोचना की दिक्कत ज़्यादा है बजाय लेखन के, जो बदलते जीवन परिदृश्य एवं मूल्यों के बावजूद अपने आलोचनात्मक रवैये एवं सिद्धांतकी के प्रति जड़ प्रकृति की रही है। मंटो के अस्वीकार की घटना ज़्यादा पुरानी नहीं है। जहां तक सोबती का सवाल है वे अपने समकालीनों में कथ्य को लेकर हमेशा अलग ही जानी जाती रहीं है। (पंजाब के अपने सांस्कृतिक रंग अल्हदा हैं जिसके प्रेम और बगावतीपन को साहित्य, लोक कथाओं और सिनेमा जैसे नए माध्यम सब ने भरमाया हैं)।

आइये चलते हैं मित्रो की तरफ - १. मित्रो मरजानी 95 पृष्ठों में फैला लघु उपन्यास है वहीं इसे लंबी कहानी भी कहा गया। अपने समूचे नारी पात्रों में यह इतना चर्चित हुआ कि इसका मंचन भी कई दफ़ा किया गया। जिसमें सबा जैदी और बी.एम साह के मंचन लिखित उल्लेख में आते हैं। मित्रों की रचना प्रक्रिया को खुद 'सोबती एक सोहबत' में बताते हुए सच्चे लोगों से प्रेरित बताती है जो दो अलग अलग घटनाओं की उपज है जिसे एक किरदार में गूँथ कर तराश दी गई। मित्रो की बुनावट पारिवारिक ताने बाने में की गई है लेकिन वह प्रचलित रंगों से थोड़ा भिन्न है। मित्रो ऐसी स्त्री की कहानी है जो देह के प्रति अधिक संवेदनशील है। जिसकी शारीरिक कामनाएँ अपेक्षाकृत अधिक मुखर हैं। किरदार में सोबती जिस साहस का रचाव रचती हैं वह बेजोड़ है।

२. सोबती का स्त्री लेखन जिस जगह खड़ा है वहाँ विशेष यह है कि वे जिस स्त्री पात्र को लेखन में ला रहीं है, वह बहुत महीन स्त्री संसार की रचना करता है। जहां पुरुष की मौजूदगी पारंपरिक रंगों में होते हुए भी नेपथ्य में सुनाई पड़ती है जबकी स्त्री किरदार केन्द्रीय

प्रकाश में ध्वनित होते हैं। जो बात क्राबिल ए गौर है वो है एक ऐसा संवाद जिसे वे निरंतर साधते हुये चलती हैं। मित्रों की पूरी दैहिक यात्रा में पुरुष के साथ कोई बाइनरी नहीं प्रतीत होती। जबकि पुरुष रूढ़िवादी होते हुए भी निरीह जान पड़ते हैं। ३.सबसे अहम पड़ाव है मित्रो और बीबों प्रसंग जहां आदर्श, नैतिकता, सामाजिक मूल्य लेखिका ने किसी का लिहाज नहीं किया और ऐसे नंगे यथार्थ को सामने रख दिया है जिसे भोगने के लिए समाज स्त्री को सदैव से बाध्य करता रहा है। मित्रो और बीबों के किरदार में जैसे कितनी औरतों की गूंज है। ऐसी औरतें जो कभी अपने अकेलेपन को भाँपती कभी अपने अकेलेपन से डरती हैं... तो कभी मन की तनी रस्सी पर बेखौफ़ दौड़ जाती है और वही बोलती हैं जो दिल में हैं -- “ मित्रो ने जैसे माँ के दिल का पूरा का पूरा हाल पढ़ लिया भोंहे चढ़ा कर छेड़ा – तुम्हारे जमाई से बांटने का मेरा तो ठेका ही ठहरा, बीबो, पर आज तू ही खुश कर ले !

“ बांह से घेरे मित्रो ने दिलजोई की-बीबो, ऊपर पौढ़ता डिप्टी तेरा इतना ही मित्र –प्यारा है तो इस घुग्घुचिया को क्यों उससे मेल ठेल करने भेजा? बालों ने सिर हिला हिला लड़की को कुछ कहना चाहा, फिर एकाएक कसकर मित्रो को बाहों में भींच लिया और हिडक हिडक कर कहा-तेरी माँ के जमाने लड़ गए, री मित्ती! अब कौन इसका मित्र –प्यारा और कौन इसका संगी साथी ! – बीबों !...”

४. सोबती की भाषा इतनी धार धार है कि आपको पढ़ते हुये कहीं कहीं ऐसा लगता है कि मित्रो आपके ही सामने खड़ी हो आप ही को खरी खरी सुना रही है। समाज ने स्त्री देह को जितने दायरों में जकड़ने की कोशिशें की हैं मित्रो एक एक कर उसी के सिर उसी की सलाखें मारती है और किसी से सच कहते नहीं डरती। सोबती ने जिस हुनर से मित्रो के इर्द-गिर्द अन्य महिला किरदार खड़े किए हैं वे उसे और भी मुखर करते हैं। दरअसल अन्य महिला किरदार उन महिलाओं का प्रतीक अधिक हैं जो मन ही मन मित्रो के साहस से हतप्रभ है लेकिन उसकी वाचालता, देह भंगिमाओं और वासना लिप्त कामना वर्णन से कान पर हाथ धर लेती हैं क्योंकि पारंपरिक मूल्य उनके आड़े आते हैं -

“ मित्रों ने छनकार करती बांह से घूँघट माथे के ऊपर सरका लिया। आँख उठा जेठ की ओर देखा, फिर पलटकर जिठानी की ओर आँखें मटका मिजाज से बोली –सज्जनों ! यह सच भी है और झूठ भी”। “सोने सी अपनी देह भूर भूर कर जला लूँ या गुलजारी देवर की न्याई सुई –सिलाई के पीछे जान खफा लूँ ? झूठ यूँ कि खासम का दिया राजपाठ छोड़े मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी ?” और भी देखें-

“मित्रो ने ओंठ बिचकाए-चिंता जंजाल किसको ? मैं तो चिंता करनेवाली के पेट ही नहीं पड़ी। छी:-छी: ! सुनकर सुहाग के कान जलने लगे। मित्रो उठ खटिया के पास आई। पहले लिहाफ़ उठाया, खेस टटोला, फिर उलट-पलट सिरहाना टटोल बोली –जिठानी, तुम्हारे देवर-सा बगलोल कोई और दूजा न होगा। न दुःख सुःख, न प्रीति-प्यार, न जलन-प्यास...बस आए दिन धौल – धप्पा...लानत-मलामत!

“ बनवारी कहता है, मित्रो तेरी देह क्या निरा शीरा है शी-रा! उस नास –होने से कहती हूँ ... –अरे इसी शीरे में तेरी जान को ढँक

मारते सर्पों की फ़ौजे पलती है !”

“नई बहू का चेहरा काला-स्याह पड़ गया, कानों पर हाथ रख कहा – हाथ जोड़ती हूँ, देवरानी, मेरे सिर पाप न चढ़ा!”

“देख सुहाग के बदन सुइयां चुभने लगी। इस कुलबोरन की तरह जनानी को हया न हो तो नित नित जूठी होती औरत की देह निरे पाप का घट है”।

५. मित्रो मरजानी का अंत जिस जगह लेखिका कर रही हैं आभास होता है परिवार एवं विवाह संस्था आखिरी शरण स्थली हो लेकिन ये लेखिका की मजबूरी ज्यादा जान पड़ती है। हिन्दी साहित्य आगे का लेखन इस बिन्दु से जूझता रहा है। खासकर 90 का दशक जहां संस्थानिक विकल्प के रूप में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के कई ढांचे अस्तित्व में आए। सिनेमा का सहारा लें तो सैकड़ों फिल्में मिल जाएंगी ‘अस्तित्व’ इसका बड़ा उदाहरण है लेकिन सवाल वहीं आके रुकता है कि औरत की आजादी रूमानी ख्याल नहीं है जिसे पुरुष या संस्थान से विलग कर जमीनी यथार्थ से काटा जा सके। दरअसल ये स्त्री-पुरुष संबंध का साझा सवाल है। (इसीलिए बाद के अध्ययनों में पुरुष के स्त्रेण होने की ओर बल दिया जाता रहा। शाहरुख खान जिसके प्रबल उदाहरण हैं।) इस तरह देखें तो सोबती का शायद इसी गुत्थी की ओर इशारा है। हालांकि वे अंत में जिस वाक्य “ सैयां के हाथ दाबे, पाँव दाबे, सिर दाबे, सिर-हथेली ओंठों से लगा झूठ मूठ की थू कर बोली-कहीं मेरे साहिब को नज़र न लग जाए इस मित्रो मरजानी की!” पर कलम तोड़ती हैं वहाँ से मित्रो के भविष्य की परछाई और अधिक जटिलता हो जाए ये भी मुमकिन है। आखिर में मित्रो पर बात छोड़ने से पूर्व मैं एक और फिल्म का जिक्र की तरफ ले चलूँ जो स्त्री के देहवादी पाठ की जरूरी फिल्मों में से एक है जहां मित्रो के हिस्से के सवाल एकीकृत हो जाते हैं। *Diary of a Nymphomaniac (2008)* इस फिल्म को नारीवादियों से बहुत सराहाना मिली कई महिला निर्देशकों ने इसके बारे में यहाँ तक कहा कि फिल्म में कैमरे की निगाह किसी पुरुष नहीं वरन महिला की निगाह से महिला देह को देख रही है। बहरहाल कॉमन कड़ी ये हैं कि यहाँ भी नायिका मित्रों की भांति देह के सवालों से जूझती है फिल्म का सबसे दिलचस्प सीन है नायिका और उसकी दादी के बीच का संवाद जिसमें नायिका दादी से कहती है कि – “तुम जानती हो निम्फोमेनिया क्या होता है ? मैं निम्फोमेनिक हूँ! और यही मेरी समस्या है कि मैं इसे कंट्रोल नहीं कर सकती.....आय नीड़ सेक्स, किसी भी पुरुष को देख कर मेरी शारीरिक उत्कंठा और भी तेज हो जाती है!! मेरे साथ हमेशा होता है कि लोग मुझे घूरी हुई नज़रों से देखते हैं....मैं दूसरी औरतों की तरह नहीं हूँ। ये बात मुझे बेहद डराती है एक दिन मैं बुरी तरह टूट जाऊँगी !!! ” आराम कुर्सी से लगी उसकी बूढ़ी दादी जिसकी सेहत दिनों ओ दिन और भी बिगड़ती जा रही है अलविदा से ठीक पहले के क्षण में पोती का हाथ थामें कहती है - “निम्फोमेनिया ए मैस इवेशन तो टु मेक वुमेन फील गिल्टी इफ दे ब्रेक द रूल...” काँपते हाथ और चेहरे की छुरीयां एक एक कर ज़िंदगी के सारे अर्थ खोल देते हैं। अपने अधूरे पड़े स्वेटर को आखिरी बार बुनने को मांगते हुए कहती है ‘एंजॉय लाइफ एज़ मच एज़ यू कैन’। फिल्म में और भी मोड हैं जिसमें असफल प्रेम और वैश्यालय जाने एवं वहाँ से लौटने की कहानी है। दरअसल फिल्म का अंत मित्रो के अंत से आगे का अंत है जिसे नायिका अन्तः भेद लेती है जहां वो द्वंद मुक्त है लौटी भी है तो खुद को समझते हुए “ आई एम प्रमिस्क्यूअस वुमेन यस, बिकौज आई वांट तो यूस सेक्स ऐज़ ए मीन्स टू फ़ाइंड.....ईफ़ यू वांट टू गिव मी ए नेम गो

ऑन, आई डॉट माईंड बट यू मस्ट नो... आई एम रियली ए मर्मेड...सिंपली ए निम्फ़ ” ।

हम अंत की ओर हैं सोबती की मुकम्मल तस्वीर के इज़हार में हम जहां तक आए थे। कृष्णा अपने को नारीवादी लेखिका कहने से सदैव बचती रही हैं वे अपने लेखन को जिस बिन्दु पर जा कर देखती हैं वह जेंडर को वर्गीकृत नहीं करता, वे उसे निहायत इंसानी मूल्यों का दस्तावेज़ मानती हैं। जहां उर्दू में इस्मत चुगताई और ज़ेहरा निगाह भी इसी फहरिस्त में शामिल हैं जिनकी छवि घोर बगावती होने के बावजूद किसी एक विशेष विचारधारा को अपनाने से गुरेज़ करती रही हैं। जबकि ये हस्तियाँ औरत के लिखे का मुकम्मल और पुख्ता बयान हैं। कृष्णा अब 91 साल की हो गई हैं बोलते में ज़ुबान अटकने लगी है। खड़े होते नहीं बनाता लेकिन फिर भी आती हैं जब उनकी ज़रूरत होती है। हालिया साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटने के क्रम में उनकी ताज़ा छवि याद है सफ़ेद लिबाज़ में प्रतिरोध खत को पढ़ती हुई जब अटकती थी तो मुस्करा देती थीं बूढ़े हो गए हैं.....और क्या कहा जाए इन बगावती औरतों के बारे में जितना कहेंगे लुत्फ़ बढ़ता जाएगा इसलिए आइए एक और बूढ़ी बगावती औरत ज़ेहरा निगाह की नज़्म से अंजाम करते हैं –

अब तो कुछ ऐसा लगता है सारा जग मुझसे छोटा है ,  
 आँखें भी मेरी ओझल- ओझल शानों पर भी कुछ रखवा है,  
 कातिबे वक्रत ने जाते जाते चेहरे पर कुछ लिख सा दिया है,  
 आईने में चेहरा खोले सोच रही हूँ क्या लिखवा है ?  
 लिखवा है तेरे रूप का हाला और किसी के गिर्द सज़ा है  
 लिखवा है जुल्फों का दुशाला और किसी ने ओड़ लिया है  
 लिखवा है आँखों का प्याला कहीं कहीं से टूट रहा है  
 पढ़कर मशहफ़े रुख की इबारत दिल को इत्मिनान हुआ है  
 रूह तलक़ सरशार हैं मेरी आईना हैरान हुआ है,  
 उसको शायद इल्म नहीं है मेरा दामन अब भी भरा है  
 जो रखना था रखे हुए हूँ जो देना था बाँट दिया है .....॥

संदर्भ ग्रंथ :

- डॉ. कायनात क़ाज़ी, कृष्णा सोबती का साहित्य और समाज

